© 2018 IJSRST | Volume 4 | Issue 2 | Print ISSN: 2395-6011 | Online ISSN: 2395-602X
Themed Section: Science and Technology

आदिकाव्य रामायण में अन्तर्निहित धर्म का स्वरूप

दिग्विजय
शोधच्छात्र
संस्कृत–विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय, इलाहाबाद

भारतवर्ष में काव्य का जन्म ही धार्मिक वातावरण में हुआ है और यह धर्म ही भारतीय संस्कृति का मूलाधार है। धर्म मानव जीवन एवं समाज की अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सार्वभौमिक घटना है। भारतीय संस्कृति में धर्म शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। धर्म के मुख्य स्रोत श्रुति और स्मृति हैं। अतः श्रुति और स्मृति द्वारा कहा गया धर्म ही अनुष्ठेय है। श्रुति अथवा वेद, स्वतः प्रमाण और स्मृति आदि परतः प्रमाण हैं।

धर्म शब्द धृ धातु से मन् प्रत्यय होकर निष्पन्न हुआ है जिसमें धृ का तात्पर्य धारण करने से है। धर्म शब्द की शाब्दिक व्युत्पत्ति इस प्रकार है– **''धरति लोकान् ध्रियते पुण्यात्मभिः इति वा''** अर्थात् जो लोक को धारण करता है अथवा जो पुण्यात्माओं द्वारा धारण किया जाता है, वह धर्म है। **आचारः परमो धर्मः**–''सदाचार ही परमधर्म है।'' **''धारणाद् धर्ममित्याहुः धर्मो धार्यते प्रजा''** अर्थात् जो धारण किया जाय और जिसे प्रजायें धारण किये हुई हों, वही धर्म है।

मनुस्मृति में धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है–

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रिय निग्रहः।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्।।[1]

अर्थात् धर्म के दशलक्षण हैं–1. धैर्य 2. क्षमा 3. दम 4. अस्तेय (चोरी न करना) 5. शौच (पवित्रता) 6. इन्द्रिय निग्रह (इन्द्रियों का वश में रखना) 7. सात्त्विक बुद्धि 8. अध्यात्म विद्या 9. सत्य 10. क्रोध न करना।

महर्षि कणाद विरचित वैशेषिक दर्शन के आरम्भ में धर्म का लक्षण इस प्रकार दिया गया है–**''यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः''।**[2] अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उन्नति) और निःश्रेयस् (पारलौकिक लक्ष्य) की सिद्धि हो, वह धर्म है। इसलिए इस जगत में अभ्युदय की प्राप्ति

IJSRST1845288 | Received : 13 Jan 2018 | Accepted : 29 Jan 2018 | January-February-2018 [(4) 2 | 1687-1694]

कराने वाला, कल्याणदायक निःश्रेयस की सिद्धि कराने वाला और व्यक्ति की पूर्णता की उपलब्धि कराने वाला ही धर्म है।

धर्म मानव हृदय की एक उच्च और उदात्त पवित्र भावना है। मनुष्य में सात्त्विक प्रवृत्तियों का उद्भव एवं विकास धर्म के कारण ही होता है तथा समाज एवं राष्ट्र सेवा, सहयोग, परोपकार, सहानुभूति की भावनायें जागृत होती हैं जिससे मानवता का विकास सम्भव होता है जो लोककल्याणकारी सिद्ध होता है।

आदिकवि वाल्मीकि को सप्तर्षियों ने धार्मिक जीवन की दीक्षा दी थी उनके द्वारा विरचित ग्रंथ रामायण में धार्मिकता को श्रेष्ठतम एवं लोककल्याणकारी बतलाया गया है। क्योंकि तत्कालीन समाज में सभी कार्यों को धर्मानुसार ही करना पड़ता था। रामायण में धर्म के बारे में इस प्रकार कहा गया है–

धर्मो ही परमो लोके धर्मे सत्यं प्रतिष्ठितम्।
धर्मसंश्रितमप्येतत् पितुर्वचनमुत्तमम्।।[3]

अर्थात् इस लोक में धर्म ही सर्वश्रेष्ठ है और धर्म में ही सत्य की प्रतिष्ठा है। पिताजी का यह वचन भी धर्म के आश्रित होने के कारण परम उत्तम है। यहाँ पर रघुकुल नायक श्रीराम ने अपने कर्त्तव्यों का पालन कर धर्म को प्रतिस्थापित किया है।

आदिकवि वाल्मीकि की दृष्टि में व्यक्ति की चारित्रिक विशेषताएँ आदर्शमय होनी चाहिए जिसका इस लौकिक जगत में अनुसरण किया ही जा सके साथ ही साथ वह देवत्व तक पहुँच जाय। उनके अनुसार चरित्र ही धर्म है। इस प्रकार श्रीराम का चरित्र लोकोपरि है जिसमें सम्पूर्ण धर्म का मूल सन्निहित है–

रामो विग्रहवान् धर्मः साधु सत्य पराक्रमः।
राजा सर्वस्य लोकस्य देवानामिव वासवः।।[4]

अर्थात् रघुकुलनायक श्रीराम धर्म के मूर्तिमान स्वरूप हैं और उनका यह चरित्र संयम, सत्य, पराक्रमी, कर्त्तव्यपरायण, लोकरक्षक, दीन दुःखियों के प्रति दया तथा समस्त देवगणों के अधिपति हैं जिनके चरित्र में, देवों की तरह गुण समाहित हैं। अतः सभी प्राणियों को श्रीराम की तरह चरित्र का अनुसरण करना चाहिए।

रामायण में धर्म की श्रेष्ठता को इस प्रकार भी बतलाया गया है–

यस्मिंस्तु सर्वे स्युरसन्निविष्टा
धर्मो यतः स्यात् तदुपक्रमेत।
द्वेष्यो भवत्यर्थ परो हि लोके
कामात्मता खल्वपि न प्रशस्ता।।[5]

उस कर्म को नहीं करना चाहिए जिस कर्म में धर्मादि सभी पुरुषार्थों का समावेशन न हो, हमें उसी कर्म का आरम्भ करना चाहिए जिससे धर्म की सिद्धि होती हो। लोक में वह सबके द्वेष का भागीदार बन जाता है, जो केवल अर्थपरायण होता है। धर्म विरोधी कार्य करने में अत्यन्त आशक्त होना, निन्दा की बात है, प्रशंसा की नहीं।

रामायण में प्रतिपादित धर्म का आशय व्यक्ति के लिए निर्धारित कर्त्तव्य पालन से है। तत्कालीन समाज में वर्णक्रमानुसार जिस वर्ण का जो कर्म निर्धारित किया गया था वह उसी के अनुरूप आचरण करता था। यही उसका कर्तव्य था और वही उसका धर्म भी था।

रामायणकालीन समाज में धर्म के साथ ही साथ लोकमर्यादा का अद्भुत समन्वय दृष्टिगोचर होता है। यहाँ पर पातिव्रत्य धर्म की विस्तार से चर्चा मिलती है। प्रत्येक स्त्री का यह धर्म था कि वह मन, वचन एवं कर्म से सदैव पति की अनुरागिणी बनी रहे तथा वह कभी पति की अवहेलना न करे, पति के द्वारा तिरस्कृत होने पर भी रोषवश उसके विरूद्ध आचरण न करे। पातिव्रत्य धर्म का उल्लंघन करने वाली स्त्रियों को समाज हेय दृष्टि से देखता था तथा उन्हें **असती** या **दुष्टा** कहकर सम्बोधित करता था। जैसे–

असत्यः सर्वलोकेऽस्मिन् सततं सत्कृता प्रियैः
भर्तारं नानुमन्यन्ते विनियातगतं स्त्रियः।।
एष स्वभावं नारीणामनुभूय पुरा सुखम्।
अल्पामप्यापदं प्राप्य दुष्यन्ति प्रजहत्यपि।।[6]

अर्थात् जो स्त्रियाँ पति द्वारा सम्मानित होकर भी उसके विपत्ति में पड़ जाने पर उसका सम्मान नहीं करती हैं वे इस संसार में **असती** या **दुष्टा** के नाम से बोधित होती हैं। क्योंकि पहले

वह पति से यथेष्ठ सुख की भोग करती रही हैं, लेकिन थोड़ी सी विपत्ति आने पर उस पर दोषारोपण करती हुई उसका साथ छोड़ देती है।

रामायण में जिस तरह पातिव्रत्य धर्म का वर्णन प्रतीत होता है उसी तरह से पति के भी नैतिक कर्त्तव्यों के निर्वहन का वर्णन मिलता है कि वह भी पत्नी की सभी प्रकार से रक्षा करें तथा उसको संतुष्ट रखे।

रामायण में अतिथि सेवाधर्म का भी वर्णन करते हुए कहा गया है कि जब अगस्त्य मुनि के आश्रम पर श्रीराम पहुँचते हैं तो मुनि अगस्त्य किस प्रकार से आतिथ्य सेवाधर्म का पालन करते हैं –

पतिगृह्य च काकुत्स्थमर्चयित्वाऽऽसनोदकैः।
कुशलप्रश्नमुक्त्वा च आस्यतामिति सोऽब्रवीत्।।
अग्निं हुत्वा प्रदायार्ध्यमतिथीन प्रतिपूज्य च।
वानप्रस्थेन धर्मेण स तेषां भोजनं ददौ।।[7]

अर्थात् अगस्त्य मुनि ने उनको हृदय से लगाया और आसन तथा जल आदि देकर उनका आतिथ्य सत्कार किया तत्पश्चात् कुशल समाचार पूँछकर उन्हें बैठने को कहा। फिर मुनि अगस्त्य ने अग्नि में आहुति देकर वानप्रस्थ धर्मानुसार अर्ध्य आदि देकर अतिथियों का भलीभाँति पूजन करके उन्हें भोजन दिया।

अतएव रामायणकालीन समाज में धर्म सामाजिक नियंत्रण के एक साधन के रूप में था तथा उस समय के समाज में **'अतिथिदेवोभवः'** की अवधारणा प्रचलित रही। जो आज भी परम्परा में है।

वाल्मीकि रामायण में धर्म के आन्तरिक विवेचनोपरान्त, अब धर्म के बाह्य स्वरूप का वर्णन इस प्रकार दृष्टिगत है। धर्म के बाह्य स्वरूप में कर्मकाण्ड ही प्रधान था उस समय के समाज में यज्ञादि क्रियाओं का प्रचलन था। जैसा कि राजा दशरथ ने अश्वमेध एवं राजसूय यज्ञों का

अनुष्ठान किया था। वैदिक विधि–विधान से यज्ञों का सम्पादन होता था। यह प्रक्रिया अत्यधिक जटिल थी। अतः यजमान के कर्त्तव्यों को इस प्रकार बतलाया गया है–

विधिहीनस्य यज्ञस्य सद्यः कर्ता विनश्यति।
तद्यथा विधिपूर्वं मे क्रतुरेष समाप्यते।।
तथा विधानं क्रियतां समर्थाः साधनेष्विति।[8]

अर्थात् रामायणकालीन समाज में यज्ञीय विधि–विधानों का अत्यधिक महत्व था क्योंकि यज्ञों के माध्यम से ही राजा अपने ऐश्वर्य एवं उत्कर्ष को प्राप्त करता था और प्रजा अपनी वृद्धि एवं कल्याण को। अतः यज्ञीय अनुष्ठान यज्ञ विधि में दक्ष, योग्य पुरोहितों के द्वारा ही सम्पन्न कराये जाते थे और यदि यज्ञ का अनुष्ठान करने वाला यजमान विधिहीन यज्ञ का अनुष्ठान करता था तो वह तत्काल नष्ट हो जाता था। सिद्धियों की प्राप्ति यज्ञों की सम्पन्नता से ही सम्भव थी।

रामायणकालीन समाज में सर्वाधिक महत्वपूर्ण यज्ञ अश्वमेध यज्ञ था। इस यज्ञ को करने वाले राजाओं में–दशरथ, महाराज सगर, देवराज इन्द्र, राजा इला तथा राम का भी नाम लिया जाता है। पुत्र प्राप्ति हेतु किया गया अश्वमेध यज्ञ का वर्णन इस प्रकार है–

मम लालप्यमानस्य सुतार्थं नास्ति वै सुखम्।
तदर्थं ह्यमेधेन यक्ष्यामीति मतिर्मम।।[9]

राजा दशरथ ने पुत्र प्राप्ति के लिए अश्वमेध यज्ञ का निश्चय किया और इस यज्ञ के अनुष्ठान से उनको चार पुत्रों एवं प्रभूत मात्रा में पुण्य की प्राप्ति हुई थी। अश्वमेध यज्ञ को यज्ञ की कोटि में सर्वोत्तम माना जाता था।

वाल्मीकीय रामायण में इसके अतिरिक्त राजसूय तथा अन्य यज्ञों की भी चर्चा की गयी है। राजसूय यज्ञ को राजधर्म की चरम सीमा कहा गया है–

कृतं मया यथा तथ्यं द्विजकार्यमनुत्तमम्।

धर्मसेतुमयो भूयः कर्तुमिच्छामि राघवौ।।
अक्षयश्चाव्ययश्चैव धर्मसेतुर्मतो मम।
धर्म प्रवचनं चैव सर्वपापप्रणाशनम्।।[10]

अर्थात् राजसूय यज्ञ धर्म सेतु (राजसूय) अक्षय एवं अविनाशी फल देता है तथा वह धर्म का पोषक एवं समस्त पापों का नाश करने वाला है।

साधारणतः गृहस्थ आश्रम में जीवन–यापन करने वाले लोगों द्वारा पंचमहायज्ञ का सम्पादन किया जाता था। ये पंचमहायज्ञ निम्न हैं–पितृयज्ञ, देवयज्ञ, ब्रह्मयज्ञ, नृयज्ञ एवं भूतयज्ञ। ये पंचमहायज्ञ मनुष्य के सामाजिक, आर्थिक, धार्मिक एवं नैतिक सम्वर्द्धन में सहायक सिद्ध होते थे।

रामायणकालीन समाज में यज्ञों की प्रधानता के साथ–साथ तप को भी बहुत महत्त्व दिय गया था। तप के ही बल पर लोगों को अनेक सिद्धियाँ प्राप्त होती थी। मनुष्य देवताओं, ऋषियों एवं पितरों का तर्पण करके उनके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता था तथा साथ ही साथ स्वयं की और भावी पीढ़ियों की वृद्धि के लिए मनोकामना करता था। उस समय लोगों का जीवन इन चार आश्रमों में विभक्त था–ब्रह्मचर्य आश्रम, गृहस्थ आश्रम, वानप्रस्थ आश्रम, संन्यास आश्रम। लोग गृहस्थ आश्रम को त्यागकर जंगलों में जाकर तप किया करते थे। ऐहिक एवं पारलौकिक फलों की प्राप्ति का माध्यम तप था। विश्वामित्र ने तपस्या के माध्यम से ही ब्राह्मणत्व प्राप्त किया था–

"ब्रह्मार्षे स्वागतं तेऽस्तु तपसा स्म सुतोषिताः।
ब्राह्मण्यं तपसोग्रेण प्राप्तवानसि कौशिक।
दीर्धमायुश्च ते ब्रह्मन ददामि समरुद्गणः।।"[11]

रामायण में तपोबल से सम्पन्न अनेक ऋषियों का उल्लेख प्राप्त होता है जैसे–महर्षि वशिष्ठ, महर्षि विश्वामित्र, शरभमुनि, सुतीक्ष्ण मुनि, अगस्त्य मुनि, महर्षि वाल्मीकि आदि। स्त्री तपस्विनियों का भी उल्लेख प्राप्त होता है जैसे–अरून्धती, अनुसूया, स्वयंप्रभा, शबरी, वेदवती आदि। ऋषि, मुनि लोग ही तपस्या नहीं करते थे बल्कि गृहस्थों ने तपस्या के बल पर अनेक

सिद्धियाँ प्राप्त की थी जैसे–महाराज भगीरथ ने घोर तपस्या के बल पर ही गंगा जी को स्वर्ग से पृथ्वी पर लाने का सफल प्रयास किया था जिससे उनके पूर्वजों का उद्धार हो सका।

रामायणकालीन समाज में लोग यज्ञादि धार्मिक क्रियाओं के प्राबल्य के अलावा दान, तप, त्याग आदि का भी सम्यक विवेचन प्राप्त होता है, उस समय विभिन्न प्रकार के देवताओं–इन्द्र, वरूण, अग्नि, मरूत, वृहस्पति, सूर्यादि देवताओं के लिए आहुति दी जाती थी और जप–तप एवं यज्ञों के माध्यम से इनको प्रसन्न करने की चेष्टा की जाती थी। रामायणकालीन समाज में पर्वत, पहाड़, नदियाँ एवं वृक्षों को भी देवतुल्य स्थान स्थापित करके उनकी पूजा करने की प्रथा प्रचलित थी इसका बहुत ही सम्यक् वर्णन देखने को मिलता है–

राघवोऽपि महातेजा नावमारुह्य तांततः।
ब्रह्मवत् क्षत्रवच्चैव जजात हित्मात्मन :।।
आचम्य च यथा शास्त्रं नदीम् तं सहसीतया।
प्रणमत्प्रीति संतुष्टो लक्ष्मणश्च महारथः।।[12]

अर्थात् श्री रामचन्द्र जी द्वारा वन में जाते समय नाव पर आरुढ़ होकर शास्त्र विधि के अनुसार आचमनादि करके सीता के साथ प्रसन्नचित्त होकर गंगा जी को प्रणाम किया और महारथी लक्ष्मण जी ने भी गंगा जी को मस्तक झुकाकर प्रणाम किया। इस प्रकार आदिकाव्य रामायण का विधिपूर्वक अध्ययन करने से यह प्रतीत होता है कि इसमें धर्म को केवल साधारण अर्थ एवं स्वरूप तक ही सीमित न रखकर उसके बृहद स्वरूप का विवेचन किया गया है। धर्म के द्वारा व्यक्ति स्वयं के लिए निर्धारित कर्तव्यों का पालन करता था। जिससे सामाजिक नियंत्रण बना रहता था। सामाजिक वर्ण व्यवस्था के अनुसार सभी वर्णों के कर्त्तव्य निर्धारित थे और इन्हीं कर्त्तव्यपालन को ही धर्म की संज्ञा प्रदान की गई थी।

अतः रामायण में धर्म के स्वरूप को दो भागों में बाँटा गया है–(1) आन्तरिक स्वरूप (2) वाह्य स्वरूप।

आन्तरिक स्वरूप के अन्तर्गत मानवीय जीवन से सम्बद्ध परिवार एवं सामाजिक कर्त्तव्य दर्शनीय हैं। जैसे मनुष्य के पुत्र धर्म, पिता धर्म, राजधर्म, गृहस्थ धर्म, पति धर्म, पातिव्रत्य धर्म

इत्यादि का वर्णन किया गया है। वाह्य स्वरूप के अंतर्गत यज्ञादि कर्म, तप, पूजन, देवार्चना के साथ पर्वतों, वृक्षों एवं नदियों आदि को भी धर्म से जोड़ा गया है जो आज के समय में आस्था के रूप में प्रतीत होते हैं अतः आदिकाव्य रामायण में धर्म को श्रेष्ठ बतलाते हुए उसको लोक कल्याण की भावना से जोड़ा गया है। मानव जीवन के चारों आश्रमों, चारों वर्गों एवं चारों वर्णों के आदर्शों का यदि कहीं सुप्रतिष्ठित स्वरूप मिलता है तो वह वाल्मीकि रामायण ही है। इसकी लोकप्रियता का कारण इसमें चित्रित जीवन की पूर्णता है। आदिकवि वाल्मीकि ने इसको **काव्य, आख्यान, गीता** और **संहिता** नाम से सम्बोधित किया है।

सन्दर्भ–ग्रन्थ–सूची

1. मनुस्मृति–6 / 92
2. कणादसूत्र–1 / 2
3. वाल्मीकि रामायण–2 / 21 / 41
4. वाल्मीकि रामायण–3 / 37 / 13
5. वाल्मीकि रामायण–2 / 21 / 58
6. वाल्मीकि रामायण–2 / 39 / 20–21
7. वाल्मीकि रामायण–3 / 12 / 26–27
8. वाल्मीकि रामायण–1 / 8 / 18
9. वाल्मीकि रामायण–1 / 8 / 8
10. वाल्मीकि रामायण–7 / 3 / 3–4
11. वाल्मीकि रामायण–1 / 65 / 19–20
12. वाल्मीकि रामायण–2 / 52 / 78–79

——